ज्ञान की सामाजिक उपयोगिता और *मुर्दहिया*

मणींद्र नाथ ठाकुर

समाजशास्त्र का स्वरूप विद्वानों के बीच बहस का मुद्दा बना हुआ है। पिछले कुछ वर्षों में अनेक विद्वानों ने खुले तौर पर यह पूछना शुरू कर दिया है कि क्या जिस तरह के समाजशास्त्र का हम अध्ययन-अध्यापन कर रहे हैं उस पर पुनः विचार की ज़रूरत नहीं है ? यूनेस्को के निर्देश पर अंतर्राष्ट्रीय समाजशास्त्र कौंसिल ने दुनिया भर में समाजशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन और शोध की स्थिति पर एक रिपोर्ट तैयार की है। इसके अनुसार एक तरफ़ तो इस विषय का बहुत विस्तार हुआ है; छात्रों, शोधकर्ताओं, शिक्षकों की संख्या में बहुत बढ़ोतरी हुई है; लेकिन यह तय नहीं हो पा रहा है कि समाजशास्त्र सामाजिक परिवर्तन की दिशा को समझ पाता है या नहीं। ऐसे में ज्ञान की सामाजिक उपयोगिता पर सवाल उठाये जा रहे हैं।[1] समाजशास्त्र के दार्शनिक आधार पर इसके पहले भी सवाल उठाये गये हैं। इमानुएल वालर्स्टीन ने समाजशास्त्र के स्वरूप पर विमर्श करने के लिए बने गुल्बेकियन कमीशन की अपनी रपट में साफ़ तौर पर माना है कि इक्कीसवीं सदी में समाजशास्त्र को अपने दार्शनिक आधार की खोज फिर से करनी होगी। न्यूटन द्वारा की गयी भौतिकी-मीमांसा पर आधारित विज्ञान के दर्शन ने जिस वस्तुपरक समाजशास्त्र की परिकल्पना की

---

[1] 'नॉलेज़ डिवाइड्स : एक्ज़ेक्युटिव समरी' (2011), *इंटरनेशनल जर्नल ऑफ़ सोशल साइंसेज़,* खण्ड 61, अंक 200-201 : 203.

है उसके दिन अब बीत गये। नये समाजशास्त्र को अपने स्रोतों, उपागमों और विषय वस्तुओं के बारे में ज़्यादा खुला होना होगा।[2]

पिछले कुछ वर्षों से भारतीय समाज-वैज्ञानिक भी इस मसले को, अलग दृष्टिकोण से ही सही, उठाने लगे हैं। इस संदर्भ में चार बड़े सवाल खड़े किये गये हैं : (अ) क्या समाजशास्त्र का ज्ञान समाज में प्रभावकारी है? (ख) क्या समाजशास्त्र समतावादी है? (ग) क्या समाजशास्त्र के लिए अनुभवजन्य ज्ञान और आत्मज्ञान का कोई महत्त्व है? (घ) क्या भारतीय समाज की विशेषताओं और अनुभवों को आधार बनाकर समाजशास्त्र के स्वरूप में कुछ आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है? इस लेख का उद्देश्य इन चार प्रश्नों पर चल रही बहस को समझना है।

मेरा आग्रह है कि इस बहस को समझने के लिए तुलसी राम की आत्मकथा *मुर्दहिया* एक उपयोगी माध्यम हो सकती है।[3] इसलिए इस लेख में मैं *मुर्दहिया* को एक हस्तक्षेप के रूप में ग्रहण करता हुआ इस बहस को आगे बढ़ाने का प्रयास करूँगा। *मुर्दहिया* ने हमारे लिए दो अहम सवाल खड़े किये हैं। एक तो लेखक पेशे से समाज-विज्ञानी हैं, लेकिन अपने अनुभवजन्य ज्ञान को उन्होंने एक समाज-वैज्ञानिक ग्रंथ की रचना के लिए उपयोग में लाने के बदले आत्मकथा के रूप में क्यों प्रस्तुत किया? दूसरा, अपने विषय का अध्ययन-अध्यापन अंग्रेज़ी माध्यम में करने के बावजूद उन्होंने हिंदी में लिखने के बारे में क्यों सोचा? इसी संदर्भ में मैं यह भी समझना चाहूँगा कि आत्मकथाओं का समाज-वैज्ञानिक महत्त्व क्या हो सकता है और किस हद तक समाज-वैज्ञानिक उसे सामाजिक तथ्यों के स्रोत और सामाजिक ज्ञान की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में देख सकते हैं। ख़ासतौर से इस पुस्तक के बारे में कहा जाता है कि यह पुस्तक सामाजिक ढाँचे में अंतर्निहित हिंसा को सामने लाने का काम बिना किसी कड़वाहट और आक्रोश के करती है।

इसके पहले कि मैं चार प्रश्नों पर चल रही बहस की बात करूँ, इसके संदर्भ पर एक नज़र डालना उचित होगा। इस बहस में एक पूर्व-पक्ष है जिसे समझ लेने से ही संदर्भ को समझ पाना सम्भव होगा। इस पूर्व-पक्ष को 'आधुनिक समाजशास्त्र' भी कहा जा सकता है।[4] इन चारों प्रश्नों के उत्तर पूर्व-पक्ष जैसे देता है उसका एक सैद्धांतिक आधार है। पूर्व-पक्ष के इस आधार को समझने से बहस को आगे बढ़ाने में सुविधा होगी। जिन्हें यह संदर्भ मालूम है वे इसे छोड़ कर भी आसानी से आगे बढ़ सकते हैं।

इसके पहले कि हम पूर्व-पक्ष के सैद्धांतिक आधार पर बात करें यह स्पष्ट कर देना ज़रूरी होगा कि इस बहस पर अपनी समझ बनाना क्यों ज़रूरी है। यदि हम यह मानते हैं कि समाजशास्त्र का उद्देश्य शोषण और विषमताविहीन समाज का निर्माण करना है और इसी के मद्देनज़र वर्तमान समाज की आलोचना करना है; समाज में चल रही प्रक्रियाओं को समझना है ताकि परिवर्तन को अंजाम दिया जा सके; तो समाजशास्त्र को शोषण, उत्पीड़न और उससे उत्पन्न पीड़ा को समझने की क्षमता विकसित करनी होगी। इसके लिए समाज-वैज्ञानिकों को तर्कसंगत दृष्टिकोण से विभिन्न ज्ञान-परम्पराओं को खँगालना तो होगा ही, लेकिन साथ ही एक संवेदनशील मनुष्य की तरह समाज में चल रही शोषण-प्रक्रियाओं को समझते हुए उनसे निरंतर संवाद स्थापित करना होगा। संवाद की इस

---

[2] इमानुएल वालर्स्टाइन (1996), *ओपन द सोशल साइंसेज़ : रिपोर्ट ऑफ़ द गुलबेंकियन कमीशन ऑन द रिस्ट्रक्चरिंग ऑफ़ सोशल साइंसेज़,* स्टैनफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, स्टैनफ़र्ड.

[3] तुलसी राम (2011), *मुर्दहिया,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली.

[4] लेख में समाज-विज्ञान की जगह समाजशास्त्र का प्रयोग करना उचित होगा, क्योंकि समाज-विज्ञान की परिकल्पना विज्ञान के प्रत्यक्षवादी दर्शन पर आधारित है। समाजशास्त्र एक व्यापक शब्द है जिसमें विज्ञान के प्रत्यक्षवादी दर्शन के अलावा अन्य दर्शनों से प्रभावित समाज-अध्ययन को भी समाहित किया जा सकता है.

प्रक्रिया को विचारों के स्तर पर पिछली और वर्तमान पीढ़ियों के चिंतकों, क्रांतिकारियों, साहित्यकारों के साथ तो चलना ही होगा, लेकिन साथ ही वर्तमान जनांदोलनों के साथ भी चलना होगा। उनके संघर्षों के अनुभवों की पूँजी समेट कर ही समाजशास्त्र का एक सही स्वरूप विकसित हो सकता है। समाजशास्त्र में चल रहे विवादों पर विमर्श का यही सूत्र होना चाहिए। इस सूत्र को यदि हम ठीक से पकड़ लें तो पूर्व-पक्ष की सीमाओं और इन मुद्दों पर नवीन दृष्टिकोण की सम्भावना की तलाश की जा सकती है।[5]

समाजशास्त्र का पूर्व-पक्ष

आधुनिक समाजशास्त्र का विकास पश्चिमी जगत में हुआ। इसका अर्थ यह कतई नहीं है कि युरोप में या दुनिया के अन्य हिस्सों में इसके पहले समाज के अध्ययन की परम्परा नहीं थी। लेकिन पुरातन और नवीन ज्ञान के बीच की दूरी बहुत बढ़ गयी। इस आधुनिक समाजशास्त्र के तीन अहम आयाम हैं जिन पर हम थोड़ी बातचीत करेंगे : (क) आधुनिक विज्ञान, जिसके विकास के बाद ज्ञान के उपागमों और ज्ञान के सृजन-केंद्रों के स्वरूप में भारी परिवर्तन आया; (ख) सेकुलरवाद, जिसके कारण जीवन के बारे में, ज्ञान के स्वरूप के बारे में और सामाजिक-राजनीतिक संस्थाओं के बारे में सोचने के तरीक़ों में भारी परिवर्तन हुआ; (ग) उपनिवेशवाद, जिसने विभिन्न समाजों के आपसी संबंधों को प्रभावित किया, उनके बीच शोषण-शोषित का संबंध स्थापित किया। समाजशास्त्र की उत्पत्ति और उसके विकास में इन तीन आयामों का महत्त्वपूर्ण योगदान है और इसलिए इसके स्वरूप के निर्धारण में भी इसका प्रभाव देखा जा सकता है। समाजशास्त्र की विधा के अन्य देशों में विस्तार के क्रम में इन तीन आयामों को लेकर समस्या बनी हुई है। इसलिए समाजशास्त्र के स्वरूप को लेकर बहस में ये मुद्दे बार-बार सामने आते हैं। इन पर थोड़ा विस्तार से चर्चा कर लेना उचित ही होगा।

सबसे पहले आधुनिक विज्ञान और समाजशास्त्र के संबंध को देखें। समाजशास्त्र का यह पूर्व-पक्ष आधुनिक विज्ञान की ज्ञान-मीमांसा का अनुगामी है और इसलिए समाज की एक वैज्ञानिक समझ रखने का दावा करता है। आधुनिक विज्ञान की ज्ञान-मीमांसा क्या है? आधुनिक विज्ञान के प्रारम्भिक दौर में बेकन, गैलीलियो, न्यूटन जैसे चिंतकों ने यह स्थापित किया कि प्रकृति निश्चित नियमों पर आधारित व्यवस्था है। मनुष्य अपनी तर्क-शक्ति से प्रकृति में इन नियमों के कारण उपस्थित बारम्बारता के विश्लेषण से इस व्यवस्था के आधारभूत नियमों की खोज कर सकता है। यदि इन नियमों की खोज कर ली जाए तो प्रकृति के रहस्यों को हम समझ सकते हैं और यदि हम उन्हें समझ लें तो फिर वे रहस्य रह ही नहीं जाएँगे। इस समझ से ज्ञान-मीमांसा कुछ इस प्रकार बनी : पहले हम प्रकृति की घटनाओं को देख, उनमें बारम्बारता को पकड़ें, फिर उस आधार पर एक परिकल्पना करें और अनेक बार प्रयोग करके इस बारम्बारता की जाँच कर यह निर्धारित करें कि परिकल्पना उस पर खरी उतरती है या नहीं। यदि प्रयोगों में बार-बार परिकल्पना सही उतरती है तो फिर हम उसे सिद्धांत की संज्ञा दे सकते हैं। एक बार सिद्धांत की खोज हो गयी तो फिर उसके उपयोग से हम अन्य सिद्धांतों

---

[5] समाजशास्त्र के उद्देश्यों को लेकर असहमति हो सकती है. इस असहमति का एक कारण है समाजशास्त्र को प्राकृतिक विज्ञान की ज्ञान-मीमांसा पर आधारित मानना. बड़ी संख्या में समाजशास्त्री इस प्रत्यक्षवादी परिकल्पना से संतुष्ट नहीं हैं. उनका मानना है कि प्रत्यक्षवाद भले ही प्रारम्भिक दौर में सामाजिक परिवर्तन के लिए उपयुक्त था, पर कालांतर में इसका स्वरूप यथास्थितिवाद के निकट पहुँच गया. इस संदर्भ में देखें, रंधीर सिंह (2006), *क्राइसिस ऑफ़ सोशलिज़िम : नोट्स इन डिफ़ेंस ऑफ़ अ कमिटमेंट*, अजंता बुक्स इंटरनेशनल, दिल्ली; रॉय भास्कर (1998), *पॉसिबिलिटी ऑफ़ नेचरिज़म : अ फ़िलॉसफ़ीकल क्रिटीक ऑफ़ द कंटेम्परेरी ह्यूमन साइंसेज़*, रौटलेज, लंदन; समीर अमीन (2012), *युरोसेंट्रिज़म : मॉडर्निटी, रिलीजन एण्ड डेमॉक्रैसी : अ क्रिटीक ऑफ़ युरोसेंट्रिज़म एण्ड कल्चरिज़म*, आकार, दिल्ली.
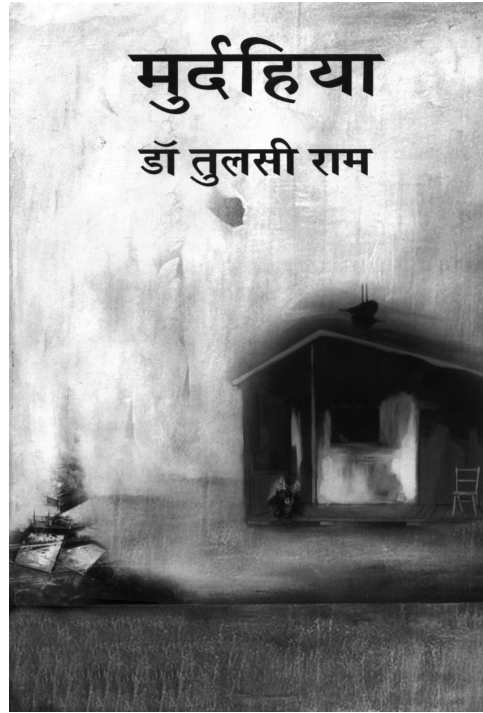
की खोज भी कर सकते हैं और उसके आधार पर तकनीक का विकास भी कर सकते है। चूँकि इस खोज पर मनुष्य की उपस्थिति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है, यानी मनुष्य के विचारों और भावनाओं का खोज की प्रक्रिया से कोई लेना-देना नहीं है इसलिए इन्हें वस्तुनिष्ठ सिद्धांत कहा जा सकता है। इस ज्ञान-मीमांसा की श्रेष्ठता का दावा इस आधार पर था कि इससे प्राप्त ज्ञान वस्तुनिष्ठ और सार्वभौमिक है। *ऑगस्त कॉम्त* ने समाजशास्त्र के दर्शन को आधुनिक विज्ञान की समझ पर आधारित करके प्रत्यक्षवादी समाजशास्त्र का विकास किया।[6]

इस ज्ञान-मीमांसा को दार्शनिक आधार प्रदान किया था देकार्त के इस विचार ने कि मनुष्य का शरीर और मन अलग-अलग है, क्योंकि मन शरीर की तरह भौतिक नहीं है।[7] देकार्त के अनुसार 'शरीर' की अवधारणा में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे हम 'मन' कह सकते हैं, और 'मन' की अवधारणा में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे हम 'शरीर' कह सकते हैं।[8] इस तरह का निष्कर्ष आधुनिक विज्ञान के विकास के लिए महत्त्वपूर्ण साबित हुआ क्योंकि चर्च की ज्ञान-मीमांसा को अब केवल मन तक ही सीमित कर दिया गया और शरीर के विषय में वैज्ञानिक समझ सम्भव मानी जाने लगी। यही

---

[6] इमानुएल वालर्स्टीन (1996): 10; इसके अलावा देखें, बैरी ग्रोवर (1997), *साइंटिफिक मेथड : ऐन हिस्टोरिकल एण्ड फ़िलॉसफ़ीकल इंट्रोडक्शन,* रौटलेज और रॉय भास्कर (2008), *रियलिस्ट फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ साइंस,* टेलर एण्ड फ्रांसिस, न्यूयार्क.

[7] जॉन कटिंघम (1992), *द कैम्ब्रिज कम्पेनियन टु देकार्त,* कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज : 236-258.

[8] देकार्त के अनुसार शरीर की परिकल्पना में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसमें 'मन' समाहित हो सके और मन की परिकल्पना में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसमें 'शरीर' समा सके. इस विचार के लिए देखें, *देकार्त मेडिटेशन VI*: http://oregonstate.edu/instruct/phl302/descartes/meditations/ Meditation6.htm, 9 जनवरी, 2013 को देखा गया.

कारण है कि पश्चिम में मनोविज्ञान का विकास न केवल अपेक्षाकृत देर से हुआ, अपितु उसे उपेक्षा का भी शिकार होना पड़ा। वस्तुनिष्ठ मनोविज्ञान की खोज की सीमाएँ थीं और इसलिए चेतना के कई स्तरों में शोध मुश्किल साबित हुआ।

इस ज्ञान–मीमांसा का व्यापक प्रभाव समाज की समझ पर भी पड़ा। समाजशास्त्र को भी वस्तुपरक बनाये जाने की बात होने लगी। भौतिकी–मीमांसा के मापदण्ड पर अलग–अलग संस्कृतियों में उपलब्ध विज्ञान की समीक्षा तो की ही जाने लगी, उनके समाज की संरचना और उसके विषय में ज्ञान को भी इसी मापदण्ड पर कसा जाने लगा। उदाहरण के लिए आयुर्वेद जैसे चिकित्सा शास्त्र के अस्तित्व पर ही प्रश्न लगाया जाने लगा। ज़ाहिरा तौर पर ग़ैर–युरोपीय संस्कृतियों में उपलब्ध ज्ञान–परम्पराओं को इन मापदंडों पर खरा नहीं पाया गया। भारत जैसे देशों में, जिनकी ज्ञान–परम्परा बहुत पुरानी थी, एक विचार मंथन प्रारम्भ हुआ जिसमें दो धाराएँ बनीं। एक ने तो यह मान लिया कि हमारा समाज अब तक अंधविश्वासों से घिरा था और युरोप के इस ज्ञानोदय ने हमें नींद से जगाया है। दूसरी धारा ने यह तो माना कि यह ज्ञानोदय है, लेकिन इस बात को भी प्रमाणित करने का प्रयास किया कि हमारे समाज की ज्ञान–परम्परा भी कुछ वैसी ही है। इसलिए यहाँ भी परम्परा में विज्ञान खोजा जाने लगा। एक तीसरा विचार भी इस दावे के रूप में काफ़ी लोकप्रिय हुआ कि हमारे यहाँ विज्ञान की समझ पश्चिम की तुलना में कुछ अलग है। इस प्रकिया में हुआ केवल इतना कि आधुनिक विज्ञान की ज्ञान–मीमांसा का वर्चस्व स्थापित हो गया।

यद्यपि स्वतंत्रता संग्राम के दौरान गाँधी, रवींद्रनाथ ठाकुर एवं आम्बेडकर जैसे कई भारतीय चिंतकों ने पश्चिम की इस ज्ञान–मीमांसा की सीमाओं को समझा और उसकी भरपूर आलोचना भी की।[9] उन्होंने मनुष्य, समाज और प्रकृति की वैकल्पिक समझ को सामाजिक परिवर्तन के संघर्ष का आधार बनाया। स्वतंत्रता के बाद के विश्वविद्यालयों में इनके विचारों का अध्ययन तो ज़रूर किया गया उनका विस्तार नहीं हुआ। आधुनिक विज्ञान की ज्ञान–मीमांसा से प्रभावित समाजशास्त्र का अध्ययन–अध्यापन आधुनिक विश्वविद्यालयों में फलने–फूलने लगा। कई भारतीय समाज–वैज्ञानिक इन सीमाओं को स्वीकारते भी हैं और भारतीय ज्ञान–परम्परा के आधार पर अपनी समझ बनाने की बात तो करते हैं, लेकिन इस दिशा में ज़्यादा कुछ होना सम्भव नहीं लगता है।[10] इस विषय पर हम आगे बात करेंगे कि आधुनिक भौतिकी की मीमांसा पर आधारित समाजशास्त्र में आत्मकथाओं का क्या महत्त्व हो सकता है और इस संदर्भ में इसकी क्या सीमाएँ हैं।

---

[9] इस सिलसिले में ध्यान देने की बात यह है कि गाँधी और रवींद्रनाथ की ही तरह आम्बेडकर ने भी इस मीमांसा की आलोचना की है. मसलन, आम्बेडकर ने अपनी रचना *बुद्ध और कार्ल मार्क्स* में साफ़ तौर पर अपना असंतोष व्यक्त करते हुए मान्यता पेश की है कि भले ही मार्क्सवादी लोग मार्क्स की तुलना बुद्ध से करना उचित न मानें, पर सच तो यह है कि सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में बुद्ध अपेक्षाकृत अधिक युक्तियुक्त लगते हैं. आम्बेडकर दोनों चिंतकों में समानता भी देखते हैं, लेकिन साथ ही यह भी मानते हैं कि बुद्ध का चिंतन अधिक मानवीय होने के साथ–साथ परिवर्तन को स्थायी बनाने में सक्षम है. इस लेख में आम्बेडकर की दलीलों पर ग़ौर करने से यह बात साफ़ लगती है कि वे मार्क्सवाद के तथाकथित विज्ञानवाद से सहमत नहीं हैं. इसी तरह आम्बेडकर के कई और लेखों में भी इस बात को पढ़ना कठिन नहीं है. वे भी मीमांसा के स्तर पर आधुनिक विज्ञान पर आधारित समाजशास्त्र के आलोचक हैं.

[10] उदाहरण के लिए लखनऊ विश्वविद्यालय के ए.के. शरण और राधाकुमुद मुखर्जी ने समाजशास्त्र के अध्ययन के पश्चिमी उपागमों की सीमाओं और भारतीय ज्ञान परम्परा के महत्त्व के बारे में बात तो की, पर समाजशास्त्र की ज्ञान–मीमांसा पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा. ए.के. शरण ने तो कुमारस्वामी की पुस्तकों का पुन:सम्पादन किया. कुमारस्वामी मानते थे कि यदि भारतीय विद्वान पश्चिमी ज्ञान–परम्परा के ग्रामोफोन और हारमोनियम की तरह काम करेंगे तो भारत का कोई महत्त्वपूर्ण योगदान सम्भव नहीं होगा. इसके बावजूद भारतीय ज्ञान–परम्परा का समाजशास्त्र में कोई ख़ास महत्त्व नहीं दिखायी पड़ता है. समाजशास्त्र और भारतीय ज्ञान–परम्परा के बीच कोई रचनात्मक संबंध बन पाना निकट भविष्य में सम्भव भी नहीं लगता, क्योंकि यह प्रश्न अब हाशिये पर चला गया है. विश्वविद्यालयी व्यवस्था के पश्चिमोन्मुखी चरित्र के कारण नयी पीढ़ी के समाजशास्त्रियों के लिए शायद यह महत्त्वपूर्ण विषय भी नहीं है.

यदि समाज की वस्तुपरक वैज्ञानिक समझ का दावा इस पूर्व-पक्ष का पहला स्तम्भ है तो इसका दूसरा स्तम्भ है सेकुलर होने का दावा। पश्चिमी समाज में धर्म को लेकर काफ़ी बौद्धिक समस्या है। आज भी बहुत से वैज्ञानिक, दार्शनिक और साहित्यकार इस बहस में लगे हैं कि भगवान है या नहीं। इस बहस के संदर्भ को समझने के लिए हमें यह समझना होगा कि विश्व के अलग-अलग हिस्सों का धार्मिक परम्पराओं से कैसा रिश्ता रहा है। इस दृष्टिकोण के तहत तीन तरह के समाज सामने आते हैं। पहला, जहाँ कई विश्वस्तरीय धर्मों की उत्पत्ति हुई है। इन समाजों की जन-चेतना में धर्म के तत्त्व पाए जाते हैं और इन समाजों में धर्म का मतलब भगवान के अस्तित्व पर बहस से जुड़ा नहीं होता। यहाँ धर्म जीवन प्रणाली का अंग होता है; वह जीने की कला है जिसमें आचार-व्यवहार के अलावा प्रकृति, मनुष्य, उनके संबंधों के बारे में विश्व-दृष्टि भी शामिल होती है। दूसरे तरह के समाज वे हैं जहाँ धर्म का प्रचार और प्रसार किया जाता है। इन समाजों में स्थानीय धर्मों के साथ इनका संघर्ष भी चलता है। इस संघर्ष के दौरान धार्मिक संस्थाओं का निर्माण होता है जिनका स्वरूप लगभग राज्य जैसा ही होता है क्योंकि इन्हें अपने अनुयायियों को न केवल जीतना होता है बल्कि उनके ऊपर लगातार अधिकार बनाये रखना होता है। तीसरे तरह का समाज वह है जहाँ किसी विश्व-धर्म को ख़ास तौर पर आमंत्रित कर स्थापित किया जाता है। इन देशों में धार्मिक संस्था राज्य के लिए काम करती है। स्थानीय धर्मों को लगभग एक सामाजिक बुराई की तरह देखा जाता है और उसे योजनापूर्वक समाप्त किया जाता है ताकि लोग अपने धार्मिक स्वभाव की पूर्ति के लिए राज्य समर्थित संस्था पर निर्भर करने लगें और राज्य को जनता पर अधिकार बनाये रखने में सुविधा हो।
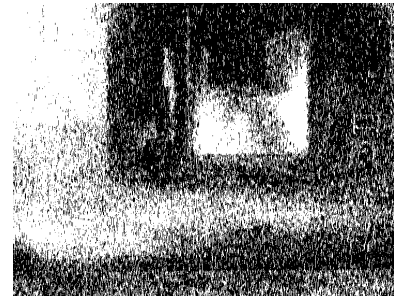
इन समाजों में धर्म का मतलब भगवान के अस्तित्व पर बहस से जुड़ा नहीं होता। यहाँ धर्म जीवन प्रणाली का अंग होता है; वह जीने की कला है जिसमें आचार-व्यवहार के अलावा प्रकृति, मनुष्य, उनके संबंधों के बारे में विश्व-दृष्टि भी शामिल होती है। दूसरे तरह के समाज वे हैं जहाँ धर्म का प्रचार और प्रसार किया जाता है। इन समाजों में स्थानीय धर्मों के साथ इनका संघर्ष भी चलता है। इस संघर्ष के दौरान धार्मिक संस्थाओं का निर्माण होता है जिनका स्वरूप लगभग राज्य जैसा ही होता है क्योंकि इन्हें अपने अनुयायियों को न केवल जीतना होता है बल्कि उनके ऊपर लगातार अधिकार बनाये रखना होता है।

इन तीन तरह के समाजों में आधुनिक युग में तीन अलग-अलग तरह की प्रक्रियाएँ आयीं। पहले तरह के समाजों में धर्म और आस्था का सवाल अब भी महत्त्वपूर्ण बना हुआ है। एशियायी समाज इसका एक उदाहरण है जहाँ ज़्यादातर विश्व-धर्मों की उत्पत्ति हुई है। यही कारण है इन समाजों में सेकुलरवाद का अर्थ युरोपीय समाजों से अलग है। सर्वधर्म समभाव या सभी धर्मों से सैद्धांतिक दूरी को ही सेकुलरवाद की संज्ञा दी जाती है। दूसरे तरह के समाजों में राज्य और धार्मिक संस्थाओं में संघर्ष का लम्बा इतिहास रहा है। धार्मिक संस्थाओं की उन नीतियों पर राज्य ने हमला करना प्रारम्भ किया जिनके द्वारा जनता के मानस पर उनका आधिकार स्थापित हो पाता था। इन समाजों में सेकुलरवाद का अर्थ इन संस्थाओं के प्रभाव को समाप्त करना ही बन गया। तीसरे तरह के समाज में, जिसका उदाहरण रूस को माना जा सकता है, जनता में ही संस्थागत धर्म के प्रति कोई आस्था नहीं बन पायी और यही कारण है कि सोवियत क्रांति के समय धर्मनिरपेक्षता के बदले धर्महीनता (नास्तिक की जगह यह ज़्यादा उपयुक्त शब्द प्रतीत होता है) को ही आदर्श समझा जाने लगा।

समाजशास्त्र का पूर्व-पक्ष अपने इस युरोपीय स्वरूप को बख़ूबी अपने में समेटे हुए है। आधुनिक ज्ञान का धर्म के प्रति रवैया इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से निर्धारित हो रहा है। इसके दो परिणाम हुए। एक तो समाजशास्त्र का धर्म के साथ संबंध ख़त्म करने का प्रयास किया गया। धर्म और धार्मिक संस्था तो समाज की समझ रखते थे और सामाजिक मूल्यों को निर्धारित करने का प्रयास करते थे। इस संबंध विच्छेद ने इन संस्थाओं के सामजिक ज्ञान को अंधविश्वास मान लिया या फिर मान लिया कि इसका ज्ञान प्रामाणिक नहीं है। भारत में विश्वविद्यालयों की परम्परा नयी नहीं है। नालंदा और तक्षशिला जैसे विद्या केंद्रों में धर्मों की पढ़ाई होती थी, इसके प्रमाण मिले हैं। लेकिन उनमें धर्मशास्त्रों का अध्ययन भी होता था। पश्चिम के आधुनिक विश्वविद्यालयों में तो धर्मों की पढ़ाई होने लगी, लेकिन भारत के विश्वविद्यालयों में इसे अभी भी वर्जित विषय ही माना जाता रहा। समाजशास्त्र भी सभी विषयों का अध्ययन तो करते हैं, लेकिन जिन विचारों का समाज पर सर्वाधिक प्रभाव है उनका अध्ययन वर्जित सा ही रहा।

समाजशास्त्र के तीसरे स्तम्भ के रूप में है औपनिवेशिक वर्चस्व। जिस समाजशास्त्र का हम अभी अध्ययन-अध्यापन करते हैं उनके मूल में है पश्चिम के देशों के औपनिवेशिक शक्ति बनने के बाद दूसरे समाजों को समझने का ज्ञान कांड, जिन पर उन्हें अधिकार करना था। राज्य, विश्वविद्यालय और समाजशास्त्र का तालमेल औपनिवेशिक समाज का मूल मंत्र था और उत्तर-औपनिवेशिक समाज में भी यह तालमेल बना रहा। इसलिए समाजशास्त्र में परिवर्तन के लिए समाज को समझने के बदले राज्य-शक्ति को स्थायित्व प्रदान करने की समझ ही मौलिक तत्त्व के रूप में रही। पूँजीवादी समाज में तो यह बात और भी स्पष्ट हो गयी। लेकिन उत्तर-औपनिवेशिक समाज में इस तरह का समाजशास्त्र एक समस्या बन गया। समाज की जो समझ उपनिवेशवाद के विरुद्ध लड़ने के लिए बनायी गयी थी उसकी पुस्तकें और यादें अब भी बनी हुई हैं और इसलिए समाजशास्त्र को लेकर नयी बहस शुरू हुई है।[11]

समाजशास्त्र के पूर्व-पक्ष में आधुनिक विज्ञान की मीमांसा, धर्महीनता और उपनिवेशवादी मानसिकता, तीन आधारभूत प्रवृत्तियाँ हैं। इस समाजशास्त्र का बहस के मुद्दों पर क्या दृष्टिकोण है? आगे हम बहस के उन चार मुद्दों पर पूर्व-पक्ष की आलोचना को सामने रखने का प्रयास करेंगे और उस प्रयास में *मुर्दहिया* जैसी पुस्तक के महत्त्व पर विचार करेंगे। यदि हम वैकल्पिक समाजशास्त्र की बात करना चाहते हैं तो हमें इन आलोचनाओं से विकल्प को गढ़ना होगा। निश्चित रूप से विकल्प केवल नकारात्मक आलोचनाओं से नहीं बन सकता है, बल्कि उसके लिए हमें कुछ रचनात्मक संवाद की ज़रूरत भी पड़ेगी। ख़ास कर हमें भारतीय ज्ञान-परम्परा, जनांदोलन और शोषण की संरचनाओं से उत्पन्न अनुभवजन्य ज्ञान से निरंतर संवाद स्थापित करना होगा। लेकिन संवाद पर विस्तृत बात करना यहाँ सम्भव नहीं है, इसलिए इस लेख में केवल पूर्व-पक्ष की सीमाओं पर ही बातचीत सम्भव है।

समाजशास्त्र का प्रभाव

समाजशास्त्र के ज्ञान पर प्रभाव के क्या मापदंड हो सकते हैं? आमतौर पर समाज के विषय में ज्ञान की प्रामाणिकता क्या है? भारत में समाजशास्त्र के ज्ञान का समाज के साथ कोई ख़ास रिश्ता नहीं दीखता

---

[11] इस विषय पर तीसरी दुनिया के कई विद्वानों ने विस्तार से लिखा है. उदाहरण के लिए नाइजीरियाई दार्शनिक क्लॉड एके ने इसका विश्लेषण किया है कि किस तरह पश्चिमी समाज ने अफ़्रीकी देशों में पूँजीवादी मूल्यों के आधार पर समाज की समझ को प्रचारित किया. उनके अनुसार इस समाजशास्त्र की सोची-समझी नक़ल न भी की गयी हो, लेकिन इतना तो तय है कि इसका व्यापक प्रभाव पश्चिम की समाज-व्यवस्था को आदर्श के रूप में स्थापित करने का रहा है जिसने कुल मिला कर औपनिवेशिक शक्तियों की मदद की. देखें, क्लॉड एके (2000), *सोशल साइंस ऐज़ इम्पीरियलिज़्म : द थियरी ऑफ़ डिवेलपमेंट,* इबादान युनिवर्सिटी प्रेस, इबादान.

है और न ही उसमें बहुत मौलिकता होती है। इस संबंध में भारतीय अनुसंधान परिषद (2007) की रपट उल्लेखनीय है। इसमें माना गया है कि भारत में समाज की समझ और सरकारी नीतियों को प्रभावित करने की दृष्टि से समाजशास्त्रीय शोध का स्तर ठीक नहीं है। ज़्यादातर शोध और अध्ययन में नूतनता और मौलिकता के बदले अपने प्रायोजकों के सरोकार और लाभ का ध्यान रखा जाता है। उनके उपागम और उनकी सैद्धांतिक संरचना इतनी लचर होती है कि उनके आधार पर कोई सामान्य या व्यापक निष्कर्ष निकालना सम्भव नहीं है। इस तरह के स्वतंत्र और मौलिक कामों के लिए सरकारी आर्थिक सहायता की भी भारी कमी दिखती है। यहाँ न केवल बौद्धिक रूप से सक्षम शोधकर्त्ताओं की कमी है, बल्कि उत्तम शोध के लिए सही शैक्षणिक माहौल का भी अभाव है।[12] विश्वविद्यालयों में हुई शोधों में सृजित ज्ञान ज़्यादातर पुस्तकालयों में ही सीमित रहता है। उनमें से कुछ का प्रकाशन पुस्तकों के रूप में होता तो है, लेकिन ज़्यादातर पुस्तकों की कुल प्रकाशित संख्या से साफ़ ज़ाहिर होता है कि उनके पाठक बहुत ही सीमित हैं। बहुत कम ही ऐसी पुस्तकें हैं जिनका उपयोग जनांदोलन अपनी नीति तय करने के लिए करते हैं। इन शोधों का संबंध सरकार की नीतियों से हो ऐसा कहना भी कठिन ही होगा। आश्चर्य की बात यह है ज़्यादातर विश्वविद्यालयों में स्थानीय समस्याओं पर शायद ही कोई शोध हो पाता है। यदि ऐसा होता भी है तो शायद ही उसका उपयोग स्थानीय प्रशासन नीति-निर्धारण के लिए करता हो या स्थानीय लोग अपनी स्थिति को समझने और बदलने के लिए करते हों। समाजशास्त्र के इस पूर्व-पक्ष का उद्देश्य सामाजिक परिवर्तन के लिए ज्ञान-अर्जन नहीं होने के कारण इसके प्रभाव के मापदंड में समाज पर इसके प्रभाव को महत्त्व नहीं दिया जाता है।

समाजशास्त्र के प्रभाव का मापदंड बनाने के लिए इस पूर्व-पक्ष ने एक दूसरा ही तरीक़ा निर्धारित किया है। इसके लिए पीयर ग्रुप द्वारा स्वीकृति की ज़रूरत है। किसी समाज-वैज्ञानिक के प्रकाशित लेखों और पुस्तकों को यदि ज्ञान के उसी क्षेत्र के समाज-वैज्ञानिक स्तरीय मान लें तो उसके प्रभावकारी होने का प्रमाण माना जा सकता है। और स्तरीय मानने का प्रमाण यह है कि किसी स्थापित विद्वान ने किसी लेख या पुस्तक को मान्यता प्राप्त पुस्तकों में या शोध-पत्रिका के लेखों में कितनी बार उल्लिखित किया है।

पीयर ग्रुप की इस मान्यता के चक्कर में समाज-वैज्ञानिक शोध समाज से ही कट गया है। शोध के तथ्यों की जगह उपागमों की शुद्धता और लेख में सत्य की गहराई की जगह उसका स्वरूप ज़्यादा महत्त्वपूर्ण हो गया है। इस संबंध में कई बार यह देखना भी उचित होगा कि ग़ैर-समाजशास्त्री हमारे प्रयासों को किस दृष्टि से देखते हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी अपने उपन्यास में ऐसे शोध-उपागम का मज़ाक उड़ाते हुए लिखते हैं कि एक शोधकर्ता का विषय था साधारण लोगों का जीवन दर्शन और वे एक प्रश्नावली की बहुत सी प्रतियाँ झोले में लिए घूमते थे। इस मुश्किल काम को करने का उनका तरीक़ा अनूठा था :

> ...उन्हें सब लोगों की बात इकठ्ठी करके उनका विश्लेषण और वर्गीकरण करने की ही चिंता थी। वे किसी निश्चित तथ्य पर न पहुँचे थे और न पहुँचना चाहते थे। उनका विश्वविद्यालय सिर्फ़ इस बात से ही संतुष्ट हो जाने वाला था कि उन्होंने तथ्यों का संग्रह ईमानदारी से किया है और उसका विश्लेषण आलोचनात्मक ढंग से और सूझ-बूझ के साथ किया है। निष्कर्ष के बारे में न उन्हें चिंता थी, न उनके विश्वविद्यालय को। वे अनासक्त चिंता के साथ चलने वाले पथिक मात्र थे। गंतव्य का न उन्हें ज्ञान था, न ही जिज्ञासा।[13]

---

[12] 'रिस्ट्रक्टरिंग द इंडियन कौंसिल ऑफ़ सोशल साइंस रिसर्च : अ रिपोर्ट ऑफ़ द फोर्थ रिव्यू कमेटी' (मार्च, 2000), आईसीएसएसआर, दिल्ली : 20-22.

[13] हजारी प्रसाद द्विवेदी (2005), *अनामदास का पोथा,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली : 209.

समाजशास्त्र की यह आलोचना भले ही किसी साहित्यकार द्वारा की गयी है लेकिन उपागम के प्रति इस तरह की निष्ठा मात्र से यह ज़रूरी नहीं हो जाता कि तथ्यों की गहराई तक पहुँचा जा सकेगा। पीयर ग्रुप की स्वीकृति की चिंता में शोधकर्ताओं में लीक पर चलने की आदत सी हो जाती है। स्वतंत्र और रचनात्मक सोच-प्रक्रिया के लिए यह बाधक है। इसलिए समाजशास्त्र के पूर्व-पक्ष की यह अहम सीमा है। भारतीय समाज में जाति, संस्कृति और धर्म की बहुलता है, इसलिए युरोप में प्रचलित शोध उपागमों के माध्यम से इस समाज की जटिलता को समझ पाना सम्भव नहीं है। यदि समाजशास्त्र के पीयर ग्रुप के शीर्ष पर कोई प्रत्यक्षवादी समाजशास्त्री विराजमान हो तो फिर सम्भव है कि वर्तमान सामाजिक व्यवस्था का आलोचनात्मक समाज-वैज्ञानिक विश्लेषण उन्हें न भाये।[14]

अपने प्रकाशन के बाद दो महीनों के भीतर ही यह पुस्तक पूरे वर्ष की सर्वाधिक बिकने वाली पुस्तक बन गयी। यह घोषणा उस वर्ष के पुस्तक मेले में *मुर्दहिया* के प्रकाशक ने की। इस पुस्तक को बिहार के मुज़फ़्फ़रपुर ज़िले में एक पुरस्कार से नवाज़ा गया। इस कार्यक्रम में उपस्थित लोगों में से ज़्यादातर से मैंने बात की और पाया कि इसके पाठक इस छोटे से शहर में काफ़ी संख्या में थे। इन तथ्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना अनुचित नहीं होगा कि इसकी पहुँच केवल विश्वविद्यालीय विद्वानों के बीच नहीं है, बल्कि आम लोगों तक भी है।

शायद यही कारण है कि भारत के बाहर से समाजशास्त्री साहित्य के माध्यम से समाजशास्त्रीय आलोचना का अपना दायित्व निर्वाह करते हैं। *मुर्दहिया* भी इसी का एक उदाहरण है। पारम्परिक शोध उपागमों से दलित समाज को सम्पूर्णता में समझना सम्भव नहीं है। हाशिये के लोगों में दुनिया भर में साहित्य के माध्यम से समाज की आलोचना की परम्परा है, क्योंकि समाजशास्त्र का पीयर ग्रुप उनके ज्ञान को समाज-वैज्ञानिक मापदंड पर सही नहीं मानता है। अब यह देखना है कि इस तरह का समाज-वैज्ञानिक विश्लेषण कितना प्रभावकारी है। इसी संदर्भ में यहाँ *मुर्दहिया* को देखने का प्रयास किया जाएगा।

मुर्दहिया का प्रभाव दो अलग-अलग तरह के लोगों पर देखा जा सकता है। इस पुस्तक के प्रभाव को देखने के लिए मैंने दो प्रयोग किये। एक ख़ास बात मैं पहले ही कह दूँ कि अपने प्रकाशन के दो महीनों के भीतर ही यह पुस्तक पूरे वर्ष की सर्वाधिक बिकने वाली पुस्तक बन गयी। यह घोषणा उस वर्ष के पुस्तक मेले में *मुर्दहिया* के प्रकाशक ने की। इस पुस्तक को बिहार के मुज़फ़्फ़रपुर ज़िले में एक पुरस्कार से नवाज़ा गया। इस कार्यक्रम में उपस्थित लोगों में से ज़्यादातर से मैंने बात की और पाया कि इसके पाठक इस छोटे से शहर में काफ़ी संख्या में थे। इन तथ्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना अनुचित नहीं होगा कि इसकी पहुँच केवल विश्वविद्यालीय विद्वानों के बीच नहीं है, बल्कि आम लोगों तक भी है। क्या तथाकथित ऊँची जाति के आम लोगों के बीच भी इसका प्रभाव हो सकता है? कई ग्रामीण और उच्च जाति की वृद्ध महिलाओं ने, जिन्होंने अपने जीवन में छुआछूत का पालन किया है, इस पुस्तक पर अपनी महत्त्वपूर्ण टिप्पणी दी। उनके अनुसार उन्होंने इस पुस्तक को पढ़ कर जीवन में पहली बार अपने उन विचारों के प्रति शर्मिंदगी महसूस की। उनका

[14] पीयर ग्रुप कई बार नवीन ज्ञान-सृजन में बाधक भी हो सकता है. इसका अच्छा उदाहरण हिंदी फिल्म *एक डॉक्टर की मौत* है जिसके मुख्य पात्र डॉक्टर के मौलिक और आम आदमी के लिए महत्त्वपूर्ण शोध को 'पीयर ग्रुप' ने इसलिए ख़ारिज कर दिया कि उससे बाज़ार में प्रचलित दवाइयों की बिक्री पर असर पड़ेगा.

यह कहना था कि इस पुस्तक ने उन्हें दूसरे पक्ष की अनुभूतियों से रू-ब-रू करवाया और मौक़ा मिलने पर वे अपने किये का प्रायश्चित्त करना चाहेंगी। समाजशास्त्र का पूर्व-पक्ष इस बात के महत्त्व को शायद ही समझ सके, क्योंकि उसमें अनुभूतियों के स्तर पर संवाद की क्षमता ही नहीं है।

अपने दूसरे प्रयोग में मैंने यह पुस्तक राजनीतिशास्त्र के एक उस दलित छात्र को दी जिसका मूल्यांकन उसके शिक्षकों ने सामान्य से काफ़ी नीचे स्तर का किया था। उसके शोध-विषय के निर्धारण के बारे में बातचीत करके मुझे लगा कि सम्भवत: यह मूल्यांकन सही न हो। मैंने उसे *मुर्दहिया* पढ़ने का सुझाव दिया। इस पुस्तक को पढ़ने का छात्र के स्वमूल्यांकन पर बेहद सकारात्मक प्रभाव पड़ा। इसका एक कारण शायद यह हो सकता है कि दलित छात्र एक ख़ास संदर्भ में वैसा ही सोचने लगता है जैसा उसे लगता है कि दूसरे लोग उसके बारे में सोच रहे हैं। इस कारण उसकी व्यक्तिगत रचनाशीलता का बड़ा हिस्सा क्रियाशील ही नहीं हो पाता। *मुर्दहिया* पढ़ने और उसके लेखक के जीवन के बारे में जानने से शायद उसके लिए इस 'स्टीरियोटाइप' को तोड़ पाना सम्भव हो सकता हो। इस सिलसिले में स्टेसी सिंक्लेयर के अमेरिकी और युरोपीय महिलाओं पर किये गये शोध का हवाला दिया जा सकता है। इसमें यह निष्कर्ष निकाला गया था कि गणित में सक्षम होने के बावजूद जब उन्हें स्त्रियों के गणित में असक्षम होने की स्टीरियोटाइप का एहसास दिलाया गया तो उनके क्षमता-प्रदर्शन में भारी कमी आ गयी।[15] इस छात्र के संदर्भ में इसके उलट जब उसे ऐसा लगा कि एक दलित व्यक्ति अपनी ही पृष्ठभूमि को शोध का विषय बना कर साक्षी भाव से उस पर बात कर सकता है तो उसकी क्षमता का सही उपयोग हो पाने की सम्भावना बढ़ गयी।[16] भारत के विश्वविद्यालयों में अब भी उच्च वर्गीय बाहुल्य है। उनकी संस्कृति भी इससे ही निर्धारित होती है। ऐसे में दलित छात्रों पर एक मनोवैज्ञानिक दबाव बना रहता है। कई बार ऐसा होता है कि एक मेधावी दलित छात्र भी उस संस्कृति के प्रभाव से रूढ़ छवि का शिकार हो जाता है। वह दलित होने के अपने अनुभवों को उच्चवर्गीय संस्कृति की नक़ल से छुपाना चाहता है। फ्रांज़ फानो द्वारा किये गये काले लोगों की मानसिकता के विश्लेषण को यदि सही मानें तो काले लोग जितना ही गोरा होना चाहते हैं उनका कालापन उतना ही साफ़ दिखायी पड़ता है। इस रूढ़ छवि के प्रभाव में उनका अकादमीय प्रदर्शन और भी प्रभावित होता है। ऐसे छात्रों को *मुर्दहिया* ने एक नया साहस दिया है। अब यह सम्भव लगने लगा है कि दलित छात्र अपनी सामाजिक स्थिति का राजनीतिक विश्लेषण बेहिचक कर सकें। *मुर्दहिया* की बेबाकी ने इस बात को प्रमाणित कर दिया है कि अपने व्यक्तित्व के निर्माण की प्रक्रिया के विश्लेषण के माध्यम से समाज की संरचनाओं की गुत्थियों को खोला जा सकता है। समाजशास्त्र की किसी पुस्तक ने शायद ही उनके जीवन को इतना प्रभावित किया हो।

---

[15] स्टेसी सिंक्लेयर, कर्टिस डी. हार्डिन और ब्राइन एस. लोरी (2006), 'सेल्फ़-स्टीरियोटाइपिंग इन द कांटेक्स्ट ऑफ़ मल्टीपिल सोशल आइडेंटिटीज़', *जर्नल ऑफ़ पर्सनैलिटी एण्ड सोशल साइकोलॅजी* (अमेरिकन साइकोलॅजीकल एसोसिएशन), 90 (4).

[16] इस मायने में *मुर्दहिया* की तुलना दक्षिणी अफ्रीका के ट्रुथ एण्ड रिकंसिलिएसन कमीशन की प्रक्रिया से की जा सकती है. यह एक ऐसा सिलसिला है जिसमें हिंसा करने वाले और हिंसा झेलने वाले के बीच एक मुक़दमे की कार्यवाही तो होती ही है, साथ ही मानवीय स्तर पर एक संवाद भी हो रहा होता है. और इस संवाद का एक मनोवैज्ञानिक परिणाम होने की सम्भावना है कि हिंसा-लिप्त समाज के मानस को हिंसा-मुक्त किया जा सके. *मुर्दहिया* के लेखक का संयम और समाज में शोषण-उत्पीड़न के निरपेक्ष विश्लेषण से पाठक के मन में जो भाव पैदा होता है उसमें समाज को हिंसा मुक्त करने की क्षमता होती है. शायद इसका कारण है लेखक द्वारा मार्क्सवाद की विश्लेषण क्षमता को आत्मसात किया जाना और बुद्ध की करुणा के प्रति गहरी आस्था का होना. समाजशास्त्र में ज्ञान के इन दो स्रोतों के बीच संवाद और उसके द्वारा भारतीय समाज को समझने की क्षमता का विकास शायद अभी तक सम्भव नहीं हो पाया है.

ज़ाहिर है कि समाजशास्त्र के पूर्व-पक्ष को अपने प्रामाणिकता के मापदंडों पर पुनर्विचार करने का समय आ गया है। पीयर ग्रुप मान्यता की बदले समाजशास्त्र को, जिनके बारे में ज्ञान-सृजन किया गया है और जिनके लिए ज्ञान-सृजन किया गया है, उनसे मान्यता प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। उस ज्ञान का प्रभाव उनके जीवन में परिवर्तन लाने में कितना सक्षम है यही उसके प्रामाणिक होने का मापदंड होना चाहिए। यदि समाजशास्त्र अपनी प्रासंगिकता बनाये रखना चाहता है तो उसे समाज के साथ एक रचनात्मक संबंध बनाये रखना होगा। और *मुर्दहिया* शायद इसका एक अच्छा उदाहरण माना जा सकता है।

समाजशास्त्र और समता के लिए संघर्ष

यदि समाजशास्त्र का उद्देश्य वर्तमान समाज की आलोचना और शोषण विहीन समाज की कल्पना को साकार करना है, ख़ास कर जो लोग ऐसा मानते हैं, उनके लिए यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि क्या समाजशास्त्र का अपना स्वरूप समतावादी है? क्या समाजशास्त्र भी जाति, धर्म और वर्ग के दृष्टिकोणों से प्रभावित है? क्या सार्वभौमिक ज्ञान होने का उसका दावा मान्य है? क्या उनके बीच एक तरह का श्रम-विभाजन नहीं चल रहा है, जिसमें दलित तो केवल तथ्यपरक काम कर सकते हैं और सिद्धान्तीकरण का काम तथाकथित कुलीन बुद्धिजीवियों के ज़िम्मे ही रहेगा? इस तरह के बहुत से प्रश्न हाल के दिनों में उठाये जाने लगे हैं। यहाँ हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि इस बहस में *मुर्दहिया* किस तरह का हस्तक्षेप है।

गोपाल गुरु ने अपने लेख में इस सवाल को उठाया है और उनका मानना है कि समाजशास्त्र में श्रम-विभाजन बहुत स्पष्ट है।[17] ऐसा माना जाता है कि सिद्धांतीकरण करने के लिए विशिष्ट क्षमता की ज़रूरत है इसलिए कुछ ख़ास तरह से प्रशिक्षित बुद्धिजीवी ही यह काम ठीक से कर सकते हैं। आम समाज-वैज्ञानिकों के पास तो ज़मीनी हक़ीक़त के बारे में तथ्यपरक शोध करने की क्षमता मात्र है। गोपाल गुरु के अनुसार इस विभाजन का एक जातिगत आधार भी है। गुरु के इस मत से समाजशास्त्र का पूर्व-पक्ष सहमत नहीं भी हो सकता है। उसका तर्क होगा कि सिद्धांतीकरण निश्चित रूप से एक जटिल बौद्धिक काम है जिसके लिए विशिष्ट क्षमता की ज़रूरत पड़ना स्वाभाविक है। लेकिन इसमें किसी तरह की असमानता देखना ठीक नहीं है। यदि किसी जाति विशेष का इसमें वर्चस्व बना हुआ है तो यह महज़ संयोग की बात ही हो सकती है। गुरु इस असमानता की प्रक्रिया को समझने का प्रयास करते हुए बताते हैं कि न केवल वस्तुपरक काम करने वाले शोध कर्ताओं को समाजशास्त्र में शूद्र का दर्जा दिया जाता है, बल्कि दलितों को वस्तुपरक काम करने की सलाह भी दी जाती है। सिद्धांतीकरण करने वाले दलित बुद्धिजीवियों को पीयर ग्रुप के शत्रुतापूर्ण व्यवहार का सामना करना पड़ता है। उदाहरण के लिए कई बार दलित बुद्धिजीवियों द्वारा सेमिनारों में उठाये गये सैद्धांतिक विषयों को गम्भीरता से नहीं लिया जाता है और अपमानजक ढंग से उनके भाषाई दोषों का मज़ाक़ उड़ाया जाता है।

गुरु की इस बात से सहमत होना मुश्किल नहीं है कि समाजशास्त्र भले ही समानता का राग अलापता रहे, उसके अंदर के संबंध असमानता पर आधारित हैं। इस असमानता का आधार केवल जाति न होकर वर्ग और भाषा भी है। समाजशास्त्र के ज्ञान-सृजन की व्यवस्था हमारे देश में पश्चिमी ज्ञान-परम्परा पर कुछ इस तरह आधारित है कि इसमें अंग्रेज़ी न बोलने वाले, दलित और निम्न वर्गीय

---

[17] गोपाल गुरु (2002), 'हाउ इगेलिटेरियन आर द सोशल साइंसेज़ इन इंडिया?', *इकनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 37, अंक 50, 14 दिसम्बर : 5003-9.

बुद्धिजीवी हमेशा ही हाशिये पर रहेंगे। यह अलग बात है कि जाति, भाषा और वर्ग कई बार एक साथ ही मिले होते हैं।

तुलसी राम का *मुर्दहिया* गुरु के इस विचार का प्रमाण है कि समानता और प्रताड़ना की जिन संस्थाओं और संरचनाओं की सूक्ष्म और स्थूल प्रक्रियाओं के बारे में हाशिये का विचारक लिखना चाहता है, समाज-वैज्ञानिक जगत में उसकी बहुत मान्यता नहीं है। एक चिंतक को अपने भोगे हुए यथार्थ तक सीमित कर दिया जाता है। जैसे हाशिये के लोगों के दृष्टि-बिंदु से सार्वभौमिक सिद्धांतीकरण निकलने की सम्भावना ही न हो। सम्भव है कि मुख्य धारा के समाज-वैज्ञानिक *मुर्दहिया* को केवल आत्मकथा कह कर टाल दें, लेकिन समाज का जिस गहराई से इसमें विश्लेषण मिल सकता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। *मुर्दहिया* समाजशास्त्र की भाषाई असमानता पर वक्तव्य है। हालाँकि पश्चिमी समाजशास्त्र साहित्य को भी समाज-वैज्ञानिक विश्लेषण में बख़ूबी शामिल करता है। उत्तर-औपनिवेशिक देशों को छोड़ कर शायद ही दुनिया के किसी और हिस्से में ऐसा होता हो कि अपनी भाषा में लिखना और बोलना अपमान का कारण हो और उस भाषा में रचा गया समाजशास्त्र भी साहित्य की श्रेणी में आ जाता हो।

क्या दलित समाज के बारे में ज्ञान का सृजन बिना साक्षात अनुभव के हो सकता है? क्या इस विषय पर कोई वस्तुनिष्ठ ज्ञान सृजन की सम्भावना है? या फिर इस विषय पर सिद्धांत निर्माण केवल वही लोग कर सकते हैं जिन्होंने इस यथार्थ को भोगा है?

संक्षेप में, समाजशास्त्र में असमानता की बात बिल्कुल सही लगती है लेकिन इस असमानता के हर स्तर को एक साथ विश्लेषण में लेने की ज़रूरत है। जाति संबंधित सामाजिक न्याय की बात उठाने वाले कई बुद्धिजीवियों की समस्या यह है कि उनमें उतनी ही प्रतिबद्धता असमानता के अन्य आयामों को लेकर नहीं है। इस मायने में *मुर्दहिया* ने सामाजिक न्याय के बुद्धिजीवियों को चौंका दिया है। इस पुस्तक में शोषण और अपमान के ऐसे कई स्तरों को एक साथ खोल दिया गया है जिन्हें समाजशास्त्र का पूर्व-पक्ष उनकी पूर्णता में समझने में सक्षम नहीं है। एक दलित व्यक्ति यदि विकलांग भी है तो उसे दलित होने के साथ ही विकलांगता का अपमान भी सहना होता है, और इस अपमान में बिरादरी की हिस्सेदारी ही ज़्यादा होती है। *मुर्दहिया* ने पूर्व-पक्ष के इस दावे को ख़ारिज कर दिया है कि समाजशास्त्र एक समान अवसर का क्षेत्र है। पूर्व-पक्ष की वस्तुपरकता का दावा ख़ारिज हो जाता है क्योंकि समाज के बहुआयामी संबंधों को उसकी पूर्णता में समझ पाना उसके लिए सम्भव नहीं हो पाता है। साथ ही ज्ञान के लिए ज्ञान का दावा कर समाजशास्त्र के सार्वभौमिक होने का दावा भी ख़ारिज हो जाता है क्योंकि उसमें से सामाजिक सत्य केवल आंशिक रूप से ही प्रकट हो पाता है। कुछ समाज-वैज्ञानिक विशुद्ध बौद्धिक होने का दावा करते हैं और अपने राजनीतिशास्त्रीय ज्ञान को भी राजनीति से परे शुद्ध बौद्धिक अनुष्ठान मानते हैं। *मुर्दहिया* ने हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित किया है कि शुद्ध बौद्धिक होने की जो यह आत्म-छवि है उसकी असलियत यह है कि उन्हें सामाजिक असमानता और अपमान का न सामना करना पड़ता है, न ही वह उन्हें दीखता है।
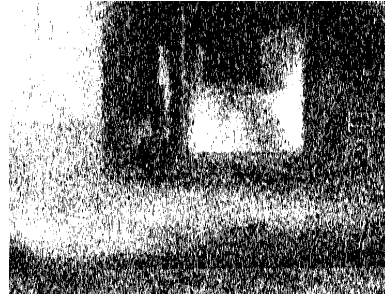
अनुभवजन्य ज्ञान और समाजशास्त्र

बहस का तीसरा मुद्दा है अनुभवजन्य ज्ञान और समाजशास्त्र के संबंध का। गोपाल गुरु, सुंदर सरुक्काई और ए. रघुरामराजू ने इस बहस की शुरुआत की है। पहले इस विषय पर समाजशास्त्र के पूर्व-पक्ष पर विचार करें। पूर्व-पक्ष के लिहाज़ से अनुभवजन्य ज्ञान का समाजशास्त्र के लिए कोई महत्त्व नहीं हो सकता है। क्योंकि अनुभवजन्य ज्ञान न केवल वस्तुपरक होने के बदले व्यक्तिनिष्ठ है, बल्कि इस आधार पर किसी सार्वभौमिक सिद्धांत तक पहुँचना भी सम्भव नहीं हो सकता है।

गुरु ने पहला प्रश्न यह उठाया है कि क्या दलित समाज के बारे में ज्ञान का सृजन बिना साक्षात अनुभव के हो सकता है? क्या इस विषय पर कोई वस्तुनिष्ठ ज्ञान सृजन की सम्भावना है? या फिर इस विषय पर सिद्धांत निर्माण केवल वही लोग कर सकते हैं जिन्होंने इस यथार्थ को भोगा है? भोगे हुए यथार्थ के बारे में सही सिद्धांत निर्माण की सम्भावनाओं के पीछे दो कारण हैं : (अ) यथार्थ के उन सूक्ष्म आयामों की समझ हो पाना जिसका कोई वस्तुपरक ज्ञान संभव नहीं है। जैसे, जातिगत निरादर के भाव की अनुभूति, जो एक दलित व्यक्ति को किसी उच्च जाति के अव्यक्त व्यवहार से हो सकती है, उसका कोई वस्तुपरक ज्ञान सम्भव नहीं है। (ब) भोगे हुए यथार्थ की अनुभूतियों से एक दृष्टि-बिंदु बनता है और जिससे देखने वाले का दृष्टिकोण निर्धारित हो सकता है। बिना इस दृष्टिकोण से दलित समाज की समझ सही नहीं बन सकती है। गुरु यह भी कहते हैं कि नैतिकता का तक़ाज़ा यह है कि बिना इस अनुभव के दलित समाज का सिद्धांतीकरण करने का प्रयास नहीं करना चाहिए।

सुंदर सरुक्काई सिद्धांतीकरण के लिए अनुभवजन्य ज्ञान के महत्त्व को ख़ारिज करते हैं। उनका मानना है कि दलित होने का अनुभव दलितों के बारे में सिद्धांत-निर्माण की आवश्यक शर्त है तो फिर बिना साम्प्रदायिक हुए साम्प्रदायिकता पर सिद्धांत-निर्माण कैसे सम्भव हो सकता है।[18] इसी तरह पश्चिमी विद्वान भारत के संदर्भ में ज्ञान-सृजन कैसे कर सकते हैं? लेकिन सरुक्काई के इस तर्क से गुरु के विचारों को ख़ारिज करना सम्भव नहीं है, क्योंकि भारतीय संस्कृति और साम्प्रदायिकता के बारे में सिद्धांत-निर्माण की तुलना दलित समाज के बारे में सिद्धांत निर्माण के साथ करने की कोई तुक नहीं हो सकती। साम्प्रदायिकता और भारतीय संस्कृति के स्थूल और सूक्ष्म यथार्थ की यथेष्ट अभिव्यक्तियाँ उपलब्ध हैं जिनके आधार पर सिद्धान्त-निर्माण सम्भव है। इसके ठीक विपरीत दलित समाज के सूक्ष्म यथार्थ के बारे में अभिव्यक्तियाँ अभी भी यथेष्ट नहीं हैं। जिस अपमान की बात गोपाल गुरु करते हैं उसके बारे में अब भी केवल आत्मकथाओं, कथाओं और कविताओं से ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। ग़ैर-दलित सिद्धांतकारों के लिए अब तक उनका कोई अस्तित्व नहीं था। दलित बौद्धिक आंदोलन के पहले किसी भी विषय में दलित चेतना पर कोई अध्ययन नहीं हुआ करता था। यहाँ तक कि साहित्यकारों की नज़र से भी दलित चेतना दूर थी।

सरुक्काई ने हैबरमास के उदाहरण से गुरु के तर्क का खण्डन करने का प्रयास किया है। यद्यपि हैबरमास के विचारों में जर्मनी के नाज़ीकालीन अनुभवों पर आधारित ज्ञान का प्रभाव आसानी से देखा जा सकता है, तथापि उन्होंने कभी इस बात पर ज़ोर नहीं दिया है कि इन सिद्धांतों के निर्माण के लिए इन अनुभवों का होना आवश्यक शर्त है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि अनुभवों को ज्ञान का आधार बनाने से तर्क की जगह भावनाओं की प्रधानता हो जाती है और इससे यथार्थपरक और सार्वभौमिक सिद्धांत निर्माण मुश्किल हो जाता है। बक़ौल सरुक्काई, हैबरमास तर्क और भावना

---

[18] सुंदर सरुक्काई (2006), 'दलित एक्सपीरिएंस एण्ड द थियरी', *इकनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 42, अंक 40, 6 अक्टूबर : 4043-4048.

को अलग-अलग रखना चाहते हैं, जबकि गुरु का मानना है कि दलित समाज को समझने के लिए और उसके आधार पर किसी सिद्धांत के निर्माण के लिए केवल तर्क ही यथेष्ट नहीं है बल्कि उस समाज के होने से भाव उत्पन्न होता है उसका भी महत्त्व है। बिना इस भाव के दलित चेतना की गहराई में उतर पाना सम्भव नहीं है।

सरुक्काई के इस विचार से सहमत होना तीन कारणों से मुश्किल जान पड़ता है। पहला, हैबरमास की तुलना गुरु या आम्बेडकर से नहीं की जा सकती है। हैबरमास नाज़ी जर्मनी से परिचित हैं, उन्होंने समाज में संवाद के अभाव के परिणाम को भी समझा है, लेकिन यहूदियों ने इसे जिस तरह से देखा, भोगा और समझा है उनके लिए उसे केवल पढ़ कर या सुन कर ही जानना सम्भव है। यक़ीनन तर्क के माध्यम से नाज़ी जर्मनी पर विमर्श सम्भव है, लेकिन यहूदियों के बारे में समझ बनाना मुश्किल है। इसलिए हैबरमास की तुलना सूर्यकांत त्रिपाठी निराला से की जा सकती है जो ब्राह्मण होने के बावजूद दलितों से क़रीब थे और ब्राह्मणवादी विचारों के घोर आलोचक थे। वे संवेदनशील थे और भिक्षुक जैसी कविता लिख सकते थे। लेकिन इस सबके बावजूद उनके रचना संसार में दलित समाज की वेदना की उपस्थिति नाम मात्र की ही है। हैबरमास की तुलना गाँधी से भी नहीं की जा सकती है, क्योंकि गाँधी दलित न होने के बावजूद इस बात को समझ पा रहे थे कि उनकी समस्याओं को समझने के लिए उनकी तरह सोचना होगा और इसके लिए उनकी तरह जीना होगा। इस बात को अपने जीवन में उतारने के प्रयास के बावजूद गाँधी दलित समाज को समझने में आम्बेडकर से हमेशा पीछे रहे और इस बात को समझ कर ही हमेशा उनके साथ संवाद में रहे। गाँधी की पूँजी है औपनिवेशिक समाज में अपमान की अनुभूति, जिस आधार पर वे दलितों के अपमान का अनुमान कर पाते हैं। लेकिन इसकी एक सीमा है। इसे गाँधी समझते भी हैं। इसलिए गाँधी तर्कवादी नहीं थे, और अनुभूति के मीमांसात्मक महत्त्व को स्वीकार करते थे।

गुरु के इस तर्क से कई लोग यह निष्कर्ष भी निकालते हैं कि उनके लिए दलित समाज को समझ पाने की अनिवार्य शर्त है दलित होना। शायद उनका इतना भर कहना है कि दलित होने के अनुभव मात्र से सिद्धांतकार को दलित समाज की उन गहराइयों की समझ हो सकती है जिसकी अभिव्यक्ति अन्यथा या तो सम्भव नहीं है या हुई नहीं है। वहाँ तक पहुँचने के लिए जिस संवेदनशीलता की ज़रूरत है शायद उसकी उपलब्धि अनुभूतियों से ही हो सकती है। गुरु के लिए अनुभव अनिवार्य शर्त तो है लेकिन एकमात्र शर्त नहीं है। ऐसा नहीं है कि उनकी निगाह में दलित मात्र हो जाने से किसी व्यक्ति में उस समाज को समझने की क्षमता आ जाती है।

सरुक्काई की तुलना सही नहीं होने का दूसरा कारण है नाज़ीवाद और जातिवाद का अंतर। नाज़ीवाद एक दुर्घटना थी जबकि जातिवाद एक संरचना है। एक व्यवस्था है जिसका लम्बा इतिहास है, और निकट भविष्य में इसके समाप्त होने की सम्भावना भी नहीं दिखती है। इसका अनुभव कई पीढ़ियों को है। नाज़ी जर्मनी में तो यहूदियों को पता था कि उनके साथ क्या हो रहा है। लेकिन जाति की स्वीकृति लगभग स्वाभाविक बन चुकी है। एक पीढ़ी दूसरे को विरासत में एक सोच देती है जिसमें जातिवाद और उससे उपजी संस्कृति की गहरी जड़ें होती हैं। गुरु के अनुभूतिजन्य ज्ञान का मूल कथ्य यह है कि केवल तर्क के आधार पर शोषण की इस संस्कृति को समझना सम्भव नहीं हैं। अपमान का प्रमाण खोजना मुश्किल है, और इसलिए कविता और आत्मकथाओं का महत्त्व है। इसलिए यह मानना उचित जान पड़ता है कि हैबरमास और गुरु दो अलग-अलग बातें कर रहे हैं। उनके तथ्य तो अलग हैं ही उनका संदर्भ भी अलग है।

इस तुलना की तीसरी समस्या है हैबरमास के बदलते विचार। नौ / ग्यारह की दुर्घटना के बाद से हैबरमास के विचारों में परिवर्तन देखा जा सकता है। हैबरमास हमेशा ही आधुनिकता और उसकी

दलित समाज के शोधार्थियों के लिए स्थूल शोषण या उससे उपजे अपमान को समझ पाना मुश्किल नहीं है, लेकिन इस अपमान से जो दलित समाज में आंतरिक हिंसा उत्पन्न होती है उसकी सूक्ष्मता समझ पाना मुश्किल है। *मुर्दहिया* ने इस आयाम को जिस तरह से उजागर किया है, उसके सहारे दलित समाज में इस प्रक्रिया का मनोवैज्ञानिक अध्ययन सम्भव है।

तर्क प्रधानता के समर्थक रहे हैं। उनके अनुसार तर्क पर आधारित संवाद लोकतांत्रिक समाज की उत्तरजीविता की अनिवार्य शर्त है। इस दुर्घटना के बाद हैबरमास को धर्म के बारे में अपने सोच पर फिर से सोचने की ज़रूरत हो रही है, क्योंकि धर्म के बढ़ते प्रभाव ने तर्क पर आधारित ज्ञान-मीमांसा के प्रति उनके मत पर असर डाला है। अब उन्हें ऐसा लगने लगा है कि धर्म से जुड़ी भावनाओं को इस ज्ञान-मीमांसा से समझना मुश्किल है। इस घटना के बाद देरिदा और हैबरमास के बीच हुए संवाद से यह स्पष्ट होता है कि इस विषय पर आधुनिक ज्ञान-मीमांसा की सीमाएँ स्वीकार करनी होंगी।[19]

अब इस बहस के संदर्भ में *मुर्दहिया* द्वारा उठाये गये सवालों को देखने का प्रयास करें। इस आत्मकथा की पहली ख़ासियत तो यह है कि यह एक निजी अनुभवों के माध्यम से पूरे दलित समाज की कहानी है। एक तरह से एथनोग्राफ़िक उपागम से दलित समाज का समाजशास्त्रीय अध्ययन है, जिसमें भोगे हुए यथार्थ का निरपेक्ष अध्ययन भी है और उससे उत्पन्न भावनाओं का उद्‌गार भी। समाजशास्त्र के पूर्व-पक्ष के उपागमों के माध्यम से दलित समाज के अंदर चल रही प्रक्रियाओं की समझ बना पाना मुश्किल है। उदाहरण के लिए, एक दलित बालक को अपनी पढ़ाई-लिखाई जारी रखने के लिए किस तरह की समस्या से गुज़रना होता है, या फिर एक दलित छात्र यदि विकलांग भी हो तो उसे समाज में किस तरह की समस्या का सामना करना पड़ सकता है। कुछ ऐसा ही तथ्य है एक ब्राह्मण विधवा महिला को किस तरह की सामाजिक समस्या का सामना करना पड़ता था। जिन लोगों को देखना भी लोग अपशकुन मानते थे उनमें अपनी विकलांगता के कारण लेखक स्वयं और वह विधवा महिला शामिल है। इसी तरह दलित समाज का ऊँची जाति के लोगों के साथ किस तरह का संबंध बनता है इसके लम्बे इतिहास का जो लेखा-जोखा आत्मकथा के माध्यम से सम्भव हो पाया है वैसा किसी और समाजशास्त्रीय अध्ययन में हो पाना मुश्किल है। किसी ऊँची जाति की कन्या का लेखक के प्रति स्नेह और उसे गोद में उठाकर नदी पार करने की घटना के बाद उस कन्या का विवाह किया जाना और विदाई के समय उस लड़की का अपनी शिक्षा पूरी नहीं कर पाने को लेकर रोना, सब कुछ जाति और पितृसत्ता के संबंधों की जटिलता को दर्शाता है। किसी समाजशास्त्रीय शोध में इस जटिलता को पकड़ पाना मुश्किल सा लगता है।

दलित समाज के शोधार्थियों के लिए स्थूल शोषण या उससे उपजे अपमान को समझ पाना तो मुश्किल नहीं है, लेकिन इस अपमान से जो दलित समाज में आंतरिक हिंसा उत्पन्न होती है उसकी सूक्ष्मता को समझ पाना मुश्किल है। *मुर्दहिया* ने इस आयाम को जिस तरह से उजागर किया है, उसके

[19] युरगन हैबरमास, ज़ाक देरिदा और जियोवानी बोरादॅरी (2004), *फ़िलॉसफ़ी इन अ टाइम ऑफ़ टेरर : डायलॉग विद युरगन हैबरमास एण्ड ज़ाक देरिदा,* युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो.

सहारे दलित समाज में इस प्रक्रिया का मनोवैज्ञानिक अध्ययन सम्भव है। लगातार हाशिये पर बने रहने से और दमन की सामाजिक संरचनाओं के परिणामस्वरूप समाज संवेदनहीनता को आत्मसात कर लेता है। इसलिए बार-बार लेखक को उसकी आँख ख़राब होने के लिए उसका मज़ाक़ उड़ाया जाता है। पत्नी को पीटना, शिक्षा के प्रति डर, शोषण के सामाजिक संबंधों से आगे की सोच का अभाव सब कुछ हाशिये पर होने का मनोविज्ञान भी हो सकता है।

इसी तरह दलित समाज के धार्मिक व्यवहार के बारे में अध्ययन करना हो तो आत्मकथा के ज़रिये इसे ज़्यादा गहराई से समझा जा सकता है। उपन्यास के दलित महिला पात्रों के लिए तरह-तरह के देवी-देवता आस्था के पात्र हैं जिनके सहारे लेखक की दादी सौ वर्ष की उम्र में भी समस्याओं से लड़ने का साहस जुटा पाती हैं। मनुष्य की धार्मिक चेतना की समझ तभी बन पायेगी, जब धर्म के सामाजिक स्वरूप की समझ के साथ व्यक्तिगत आस्था के आयामों को अनुभवजन्य ज्ञान के आधार पर ठीक-ठीक समझा जाये। मुर्दहिया में आये धार्मिक प्रसंगों को एक साथ एकत्रित करके उसके विश्लेषण से धर्म के विषय में समाजशास्त्र के तीन बड़े सिद्धांतकारों (मार्क्स, वेबर, दुर्खाइम) के विचारों के साथ रचनात्मक संवाद करना सम्भव हो सकता है। इन तीनों सिद्धांतकारों के पास धर्म के अनुभवजन्य ज्ञान का अभाव है और निश्चित रूप से उन्हें इस बात का कोई ज्ञान नहीं है कि हाशिये पर रह रहे समाज में धार्मिक आस्था का स्वरूप और प्रभाव क्या हो सकता है।

अत: गोपाल गुरु का तर्क इस मायने में ज़्यादा सटीक लगता है कि समाजशास्त्र में अनुभवजन्य ज्ञान के लिए जगह होनी चाहिए। आधुनिकता की ज्ञान-मीमांसा में इसकी अनुपस्थिति ने समाज के अनेक पहलुओं को ज्ञान की प्रक्रिया से बाहर कर दिया है। मनुष्य संवेदनशील प्राणी है और उसके जीवन के बहुत से निर्णय संवेदनाओं से उठे भावों से निर्धारित होते हैं। उन भावनाओं और उसके परिणामों को समझने के लिए कला, कविताओं, आत्मकथाओं और मौखिक आख्यानों की सहायता लेनी होगी। ख़ास कर ऐसे समाज का, जो ज्ञानोपार्जन से दूर रहा हो, उसके पास भले ही लिखित रूप में सामाजिक सिद्धांतों का अभाव हो, मनुष्य मात्र होने के चलते अपनी परिस्थितियों के विश्लेषण की क्षमता उनके अंदर भी है और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को इसका हस्तांतरण कहानियों-क़िस्सों द्वारा होता है। समाजशास्त्र की विधा और भाषा की तुलना में इनमें भावनाओं के माध्यम से सामाजिक विश्लेषण की क्षमता ज़्यादा होती है और उसका सम्प्रेषण भी आसान होता है। समाजशास्त्र का पूर्व-पक्ष समाजशास्त्र के इस स्वरूप का संज्ञान ही नहीं लेता है, लेकिन *मुर्दहिया* से सबक़ लेकर उसे इसमें सुधार की बात सोचनी चाहिए। ख़ास कर यदि दलित समाज की मुक्ति समाजशास्त्र का उद्देश्य हो तो अनुभूतियों का महत्त्व है और रघुरामराजू की इस बात से सहमत होने में कोई परेशानी नहीं होनी चाहिए कि उस अनुभूति के सम्प्रेषण के लिए रूप की जगह अंतर्वस्तु का ज़्यादा महत्त्व होता है। इसीलिए दलित समाज के लिए कविता और आत्मकथाओं का महत्त्व समाजशास्त्र से किसी मायने में कम नहीं है।[20]

स्वदेशी समाजशास्त्र की सम्भावना

समाजशास्त्र में बहस का चौथा मुद्दा है इसके स्वदेशी स्वरूप की खोज का। उत्तर-औपनिवेशिक समाज की बड़ी समस्या रही है उन्हें अपने आप को समझने के लिए भी औपनिवेशिक ताक़त की भाषा, उपागमों और अवधारणाओं का सहारा लेना होता है। यदि समाजशास्त्र का उद्देश्य शासन करने

---

[20] ए. रघुरामराजू (2010), 'प्रॉब्लमेटाइज़िंग लिव्ड दलित एक्सपीरिएंस', *इकनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 45, अंक 29, 17 जुलाई : 162-167.

के लिए ज्ञान प्राप्त करना हो, तो उसका स्वरूप उस समाजशास्त्र से बिल्कुल भिन्न होगा जिसका उद्देश्य शोषण-मुक्त समाज की स्थापना करना है। शासक के समाजशास्त्र का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य होता है शासित समाज को उसके इतिहास की ऐसी समझ देना जिससे वह हमेशा के लिए अपने आपको अविकसित मान ले, ताकि औपनिवेशिक समाज की सोच-प्रक्रिया को नियंत्रित किया जा सके। इस उद्देश्य से बने समाजशास्त्र का वर्चस्व अब भी उत्तर-औपनिवेशिक देशों के विश्वविद्यालयों में बना हुआ है। बहुत से समाज-वैज्ञानिक इस औपनिवेशिक मानसिकता से उसे बाहर निकलने की बात करते हैं। *मुर्दहिया* इस मायने में भी इस बहस में एक हस्तक्षेप है।

ग़ौर करने की बात है कि स्वतंत्रता संग्राम के समय के भारतीय चिंतकों में यह जागृति आयी थी कि स्वराज के लिए, इस संग्राम के लिए, अपने समाज को अपनी भाषा, अपनी ज्ञान परम्परा के माध्यम से समझना ज़रूरी है। उन्होंने ज्ञान-विज्ञान से लेकर दर्शन और संस्थागत प्रथाओं तक पर विमर्श प्रारम्भ किया। औपनिवेशिक ताक़त से अपने आपको अलग करने के लिए अपनी परम्पराओं के आधार पर समाज के स्व को समझने और पुन: स्थापित करने का प्रयास किया। इस प्रक्रिया में समाज की जो समझ बन पायी, उसके आधार पर संग्राम की नीतियों का निर्माण किया। एक तरह के वैकल्पिक समाजशास्त्र की रचना की गयी जिसका उद्देश्य एक मुक्त समाज के लिए संग्राम को आगे बढ़ाना था। लेकिन भारत के विश्वविद्यालयों में, ख़ासकर स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद, समाजशास्त्र के नये स्वरूप पर कोई ख़ास काम नहीं हुआ। यहाँ तक कि संग्राम के समय की जो उपलब्धियाँ थीं उन्हें भी विश्वविद्यालय की औपचारिक शिक्षा का अंग नहीं बनाया जा सका। इसका प्रमाण यह है कि इन विश्वविद्यालयों में भारतीय दर्शन या किसी अन्य विधा की पढ़ाई तक ठीक से नहीं होती। राजनीतिशास्त्र की शुरुआत यूनानी चिंतन से होती है। अस्सी के दशक में आकर कुछ विश्वविद्यालयों में आधुनिक राजनीतिक चिंतक को पाठ्यक्रम में शामिल किया गया। भारतीय दर्शन तो अब भी उपेक्षा का शिकार है। जिस पूर्व-पक्ष की बात हमने शुरू में की थी उसी समाजशास्त्र का अध्ययन-अध्यापन इन विश्वविद्यालयों में होता रहा।

पिछले कुछ वर्षों से बहुत से समाज-वैज्ञानिक इस पश्चिमी वर्चस्व पर सवाल उठाने लगे हैं। राजनीतिशास्त्री मनोरंजन मोहंती प्रश्न करते हैं कि स्वतंत्रता के इतने वर्षों बाद भी क्या भारतीय समाजशास्त्र विमर्श के उस ढाँचे को बदल पाया है जो हमें औपनिवेशिक सत्ता द्वारा प्रदान किया गया था। उनके अनुसार, उत्तर-आधुनिक समाज में विमर्श के ढाँचे का परीक्षण इसलिए ज़रूरी है कि इस बात की पड़ताल हो सके कि औपनिवेशिक ताक़तों के द्वारा बनाये गये इस ढाँचे में कोई परिवर्तन आया है या नहीं। औपनिवेशिक सत्ता द्वारा शुरू की गयी बौद्धिक प्रक्रिया ने देसी ज्ञान परम्परा को दरकिनार कर यह सुनिश्चित कर दिया था कि मूल निवासी अपने इतिहास और संस्कृति की सही समझ न बना पाएँ। उत्तर-औपनिवेशिक राज्यों के पास विमर्श की इस औपनिवेशिक परम्परा को ही और सुदृढ़ करने के अलावा और कोई चारा नहीं था।[21] मोहंती विमर्श के इस ढाँचे को बदलना चाहते हैं ताकि भारतीय समाज के अनुभवों और अध्ययन के आधार पर समाजशास्त्र के सिद्धांतों का निर्माण किया जा सके। मोहंती मानते हैं कि पश्चिमी ज्ञान-परम्परा के प्रति भारतीय बुद्धिजीवियों की असंतुष्टि की कई अभिव्यक्तियाँ हुई हैं, लेकिन आख़िरी विश्लेषण में विमर्श पूरी तरह से पश्चिमी ज्ञान परम्परा से मुक्त नहीं हो पाया है। उदाहरण के लिए मार्क्सवादी विमर्श भले ही जनमुक्ति संघर्ष को गति प्रदान करने में सक्षम था, लेकिन एक सीमा के बाद जनमानस को प्रभावित करने में असक्षम

---

[21] मनोरंजन मोहंती (1989), 'चेंजिंग टर्म्स ऑफ़ डिस्कोर्स : अ पोज़र', *इकनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 24, अंक 37: 2069.

है। इसका एक कारण तो यह है भारतीय मार्क्सवादी यहाँ के इतिहास और संस्कृति को समझने की गुत्थी नहीं सुलझा पाये हैं। इस समाज के विशिष्ट चरित्र, जैसे जाति, धर्म और भाषा की जटिलता को समझने का यथोचित प्रयास नहीं हुआ है। भारत की विशिष्ट परिस्थितियों में रचनात्मक ढंग से मार्क्सवाद को समझा नहीं जा सका है।

ऐसा ही कुछ विरोध दो और विमर्शों, सबॉल्टर्न विमर्श और विकल्प-विमर्श, के साथ भी है। पहले विमर्श में भले ही यह माना जाता है कि ज़मीनी स्तर पर आम आदमी का जीवन सामाजिक प्रक्रियाओं और व्यवस्थागत दावों की बेहतर समझ दे सकता है, लेकिन इस सोच का स्रोत भी पश्चिमी ज्ञान-परम्परा है। विकल्प-विमर्श भी पश्चिमी ज्ञान, उसके विज्ञानवाद और उसकी तार्किकता की आलोचना करते हुए भारतीय परम्परा पर आधारित प्रामाणिक सामाजिक व्यवस्था की बात करता है। लेकिन इस सम्भावना से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि इसमें सांस्कृतिक कट्टरता की सम्भावना रहती है। कुल मिलाकर मोहंती का मानना है कि ऐसे भारतीय विकल्प की तलाश अभी बाक़ी है जो ग़ैर-ब्राह्मणवादी, पूँजीवाद विरोधी और पश्चिमी उपनिवेशवाद विरोधी हो। इसलिए विमर्श के इस नये ढाँचे की खोज समाजवाद के लिए आवश्यक है।[22] मोहंती के वैकल्पिक समाजशास्त्र का अर्थ यह नहीं समझा जाना चाहिए कि पश्चिम के समाजशास्त्र को बिल्कुल ही ख़ारिज कर दिया जाए। इसका अर्थ केवल इतना है कि इसे औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्त कर भारतीय संदर्भ के उपयुक्त बनाया जाना चाहिए।

इस बहस में पहला मुद्दा है कि क्या समाजशास्त्र को देश-काल की सीमाओं में बाँधा जा सकता है। क्या ऐसा नहीं है कि मानव समुदाय की समस्या सार्वभौमिक है, और उसकी समझ और उसका समाधान भी एक जैसा होगा। इस विषय पर पूर्व-पक्ष का क्या मानना है? पूर्व-पक्ष की समस्या यह है कि पश्चिम के ज्ञान-वर्चस्व को वह अविवादित रूप में स्वीकार करता है। उसका मानना है कि समाजशास्त्र को देश-काल से स्वतंत्र एवं सार्वभौमिक समझना चाहिए। लेकिन इस बात से इनकार करना मुश्किल है कि सार्वभौमिक ज्ञान का स्रोत केवल पश्चिमी समाज ही नहीं हो सकता है। यदि यह सही है तो फिर पूर्व-पक्ष से यह पूछने की ज़रूरत है उसका संबंध ग़ैर-पश्चिमी समाज, ख़ास कर उत्तर-आधुनिक समाज से क्या है? भारत के समाज को समझने का प्रयास करने वाले बहुत से बुद्धिजीवी किसी भी भारतीय भाषा के साहित्य, कला और संस्कृति से परिचित नहीं हैं। यदि भाषा वास्तविकता की तरफ़ केवल इंगित मात्र करने में सक्षम है और उसके बहुत से सूक्ष्म आयामों को केवल मनुष्य की अनेक अभिव्यक्तियों से ही समझा जा सकता है तो फिर ऐसे बुद्धिजीवी हमारे समाज को कितना समझ पा रहे होंगे, यह कहना कठिन है। बिना भारतीय संदर्भों से जुड़े बहुत से भारतीय बुद्धिजीवी तथाकथित पीयर ग्रुप के सीमित दायरे में बँधे रहते हैं। देसी समाजशास्त्र का अर्थ शायद यह है कि भारतीय समाज को समझने के लिए हमें यह जानने की ज़रूरत है कि यहाँ के लोग अपने बारे में अपनी समझ कैसे बनाते हैं। हर समाज एक ख़ास तरह की ज्ञान-मीमांसा से अपने आप को समझने का प्रयास करता है। बिना उसे समझे यह जानना कठिन है कि समाज अपने बारे में कैसे सोचता है। इसके लिए उस समाज के बौद्धिक इतिहास को खँगालने की ज़रूरत है।

कुछ समाज-वैज्ञानिक मोहंती की इस बात से सहमत नहीं हैं कि समाजशास्त्र की आलोचना और उसके वैकल्पिक स्वरूप की खोज का कोई सरोकार भारतीय ज्ञान-परम्परा से है। सारा जोसेफ़ का मानना है कि भारतीय ज्ञान-परम्परा पर आधारित समाजशास्त्र की वकालत करने की कई

---

[22] मनोरंजन मोहंती (1989): 2069-71.

राजनीतिक समस्याएँ हैं। इस बात से तो उनकी सहमति है कि भारत में समाजशास्त्र की स्थिति ठीक नहीं है और उसका कोई ख़ास योगदान विश्व के बौद्धिक जगत में नहीं हो पाया है। लेकिन वैकल्पिक विज्ञान और समाजशास्त्र की परियोजना की राजनीति से उनकी सहमति नहीं है। क्योंकि भारतीय समाज की स्वतंत्र अस्मिता की खोज, जिसका ज़िक्र बहुत विद्वान करते हैं, को ज्ञान की प्रक्रिया से जोड़ने पर उसकी सार्वभौमिकता पर सवाल खड़ा होगा और इससे उत्तर-आधुनिकतावादी प्रवृत्तियों को बल मिलेगा। ज्ञान एक तरह से अस्मिता की राजनीति का हिस्सा हो जाएगा।[23] लेकिन प्रश्न पूछने की ज़रूरत यह है कि क्या बिना अस्मिता की राजनीति का हिस्सा हुए भी किसी समाज को उसके अपने ज्ञान-मीमांसा की संस्कृति के संदर्भ में समझना सम्भव है? शायद *मुर्दहिया* इस प्रश्न का सही उत्तर है जिसमें दलित समाज के अनुभवों ने ज्ञान-मीमांसा को प्रभावित किया है, सार्वभौमिकता और तथ्यपरकता की पोल खुली है, फिर भी यह अस्मिता की राजनीति नहीं है। और यदि है भी तो केवल उस हद तक जिससे दलित समाज की मुक्ति के समाजशास्त्र का निर्माण हो सके।

देसी समाजशास्त्र की बात करते हुए क्लॉड एल्वारेस का मानना है कि राजनीतिक और आर्थिक उपनिवेशवाद के विरोध में कई देशों में विरोध होता देखा जा सकता है, लेकिन बौद्धिक उपनिवेशवाद के विरोध में आवाज़ें नहीं सुनायी देतीं। बल्कि पश्चिमी विश्वविद्यालयों में जिस समाजशास्त्र का अध्ययन-अध्यापन हो रहा है भारतीय विश्वविद्यालयों में उनके उपागमों और संकल्पनाओं को यथावत स्वीकार कर लिया जाता है।[24] समाजशास्त्र के अलग विषयों के पाठ्यक्रमों का विश्लेषण कर क्लॉड स्थापित करते हैं कि ग़ैर-पश्चिमी देशों के समाजशास्त्र में आश्चर्यजनक ढंग से पश्चिम की नकल देखी जा सकती है। इसका सर्वाधिक सही उदहारण तो दर्शन शास्त्र का पाठ्यक्रम है जिसमें भारतीय दर्शन का अंश नाम मात्र ही रहता है। मोहंती की तरह क्लॉड भी मानते हैं हर समाज में अपना एक ज्ञान-कांड होता है और उपनिवेशवाद उसे विस्थापित करता है ताकि उनके सोच के तरीक़े पर क़ब्ज़ा किया जा सके। ग्राम्शी ने हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित किया है, और गाँधी ने व्यवहार में यह कर दिखाया है कि हमारी पहली लड़ाई सोच को बदलने की होनी चाहिए। हाल के दिनों में *डेविड हार्वी* जैसे मार्क्सवादी चिंतकों ने स्पष्ट किया है कि पूँजीवाद के विरोध की लड़ाई को वैचारिक स्तर पर और गम्भीरता से लेने की ज़रूरत है।[25]

अब समाजशास्त्र की इस बहस में *मुर्दहिया* के हस्तक्षेप पर ग़ौर करें। *मुर्दहिया* वस्तुत: आत्मकथात्मक शैली में रचित समाजशास्त्रीय विश्लेषण माना जा सकता है। पश्चिमी समाजशास्त्र से परिकल्पनाओं को लेना इसकी मजबूरी नहीं है। बिना उन उपागमों और परिकल्पनाओं के भी पाठक समाज की समझ बना सकता है। भारतीय विश्वविद्यालयों में दलित समाज पर उपलब्ध ज्ञान की तुलना में *मुर्दहिया* की समझ ज़्यादा विश्लेषणात्मक भी है और पूर्णता लिए हुए भी है। समाजशास्त्र का पूर्व-पक्ष भले ही इस वस्तुपरकता और सार्वभौमिकता के आधार पर उपयुक्त न माने, यह तो मानना ही होगा कि आम आदमी भी इस पुस्तक को पढ़ कर दलित समाज के बारे में अपनी समझ बना सकता है। भले ही वे इसे आत्मकथा और साहित्य मानें, पर इस बात से इनकार करना बहुत कठिन है कि यह एक उत्तम समाजशास्त्रीय रचना भी है। इसके अलावा यह मानने में मुश्किल नहीं होनी चाहिए कि

---

[23] साराह जोसेफ़ (1991), 'इंडीजीनियस सोशल साइंस प्रोजेक्ट : पॉलिटिकल इम्प्लीकेशंस', *इकनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 26, अंक 15, 13 अप्रैल : 959-63.

[24] क्लॉड एल्वारेस (2011), 'अ क्रिटीक ऑफ़ युरोसेंट्रिक सोशल साइंसेज़ एण्ड द क्वेश्चन ऑफ़ आल्टर्नेटिव्ज़', *इकनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 46, अंक 22, 28 मार्च.

[25] डेविड हार्वी (2010), *द क्राइसिस टुडे : मार्क्सिज़म 2008,* http://www.youtube.com/watch?v=YYQb0fthNfl, 25 मई को दोपहर बाद 3.30 को देखा गया।

भारत के साथ-साथ तृतीय विश्व के कई अन्य देशों में उपन्यास, कहानी, आत्मकथा और महाकाव्य समाज-वैज्ञानिक ज्ञान को सार्वजनीन करने के अनेक उपागमों में से एक हैं।

निष्कर्षत: ऐसा कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि समाज को समझने, सामाजिक शक्ति संतुलन की आलोचना करने और व्यवस्था परिवर्तन की चेतना पैदा करने में *मुर्दहिया* एक हस्तक्षेप है। भारतीय समाज के पूर्व-पक्ष में आत्मकथा के समाजशास्त्रीय महत्त्व के प्रति जो संदेह है उसकी नींव में पश्चिमी ज्ञानोदय की मीमांसा के प्रति मोह है। एक कारण शायद यह भी है कि ग़ैर-पश्चिमी देशों में आधुनिक विश्वविद्यालयों की स्थापना औपनिवेशिक काल में हुई और एक तरह से ये आधुनिक पश्चिमी ज्ञान-परम्परा को सार्वभौमिक बनाने के लिए उनके ही विस्तार हैं। इनका जनसंपर्क कम है इसलिए हमारे सामाजिक अनुभवों और समाजशास्त्र में एक अंतर्विरोध रह जाता है। इसीलिए बहुत से समाज-वैज्ञानिकों को साहित्य के माध्यम से अपने ज्ञान का सम्प्रेषण करना पड़ता है। बहुत से समाज-वैज्ञानिक यह तो मानते हैं कि भारतीय ज्ञान-परम्परा के साथ सम्यक संबंध बनाये बिना हमारी सही समझ बन नहीं सकती है, लेकिन अपने समाजशास्त्रीय लेखन में उसका उपयोग नहीं कर पाते हैं। इसका कारण शायद अपने पीयर ग्रुप की असहमति है जिनमें पश्चिमी ज्ञान के प्रति अतिमोह है। इस कारण बहुत से भारतीय बुद्धिजीवी दोहरे व्यक्तित्व में जीते हैं। *मुर्दहिया* शायद इसी से निकलने का एक उपाय है जिसमें सत्य की समझ को यथावत रखा जा सका है और जिसमें सामाजिक परिवर्तन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने की क्षमता है।

संदर्भ

इमानुएल वालर्स्टीन (1996), *ओपिन द सोशल साइंसेज़ : रिपोर्ट ऑफ़ द गुलबेंकियन कमीशन ऑन द रिस्ट्रक्चरिंग ऑफ़ सोशल साइंसेज़,* स्टैनफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, स्टैनफ़र्ड.

ए. रघुरामराजू (2010), 'प्रॉब्लमेटाइज़िंग लिव्ड दलित एक्सपीरिएंस', *इकनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 45, अंक 39.

क्लॉड अलवारिस (2011), 'ए क्रिटीक ऑफ़ युरोसेंट्रिक सोशल साइंसेज़ एण्ड द क्वेश्चन ऑफ़ आल्टर्नेटिव्ज़', खण्ड 46, अंक 42.

क्लॉड एके (2000), *सोशल साइंस ऐज़ इम्पीरियलिज़म : द थियरी ऑफ़ डिवेलपमेंट,* इबादान युनिविर्सिटी प्रेस, इबादान.

गोपाल गुरु (2002), 'हाउ इगेलिटेरियन आर द सोशल साइंसेज़ इन इंडिया?', *इकनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 37, अंक 50.

जॉन कटिंघम (1992), *द कैम्ब्रिज कम्पेनियन टु देकार्त,* कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज.

डेविड हार्वी (2010), *द क्राइसिस टुडे : मार्क्सिज़म 2008,* http://www.youtube.com/watch?v=YYQb0fthNfl, 25 मई को दोपहर बाद 3.30 को देखा गया.

तुलसी राम (2011), *मुर्दहिया,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली.

देकार्त मेडिटेशन VI: http://oregonstate.edu/instruct/phl302/descartes/meditations/Meditation6.htm, 9 जनवरी, 2013 को देखा गया.

'नॉलेज़ डिवाइड्स : एक्ज़ेक्युटिव समरी' (2011), *इंटरनेशनल जर्नल ऑफ़ सोशल साइंसेज़,* खण्ड 61, अंक 200-201.

बर्ट्रेंड रसेल, लुई आई. ग्रीनपरसन, स्टीफन एण्डरसन (1999), *रसेल ऑन रिलीजन : सिलेक्शन फ्रॉम द राइटिंग्ज़ ऑफ़ द बर्ट्रेंड रसेल,* रौटलेज, लंदन.

बैरी ग्रोवर (1997), *साइंटिफिक मैथड : ऐन हिस्टोरिकल एण्ड फ़िलॉसॉफ़िकल इंट्रोडक्शन,* रौटलेज, लंदन.

मनोरंजन मोहंती (1989), 'चेंजिंग टर्म्स ऑफ़ डिस्कोर्स : अ पोज़र', *इकनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली,*

खण्ड 24, अंक 37.

युरगन हैबरमास, ज़ाक देरिदा और जियोवानी बोरादॅरी (2004), *फ़िलॉसफ़ी इन अ टाइम ऑफ़ टेरर : डायलॉग विद युरगन हैबरमास एण्ड ज़ाक देरिदा,* युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो.

रंधीर सिंह (2006), *क्राइसिस ऑफ़ सोशलिज़म : नोट्स इन डिफेंस ऑफ़ अ कमिटमेंट,* अजंता बुक्स इंटरनेशनल, दिल्ली.

राहुल सिंह (2011), 'मुर्दहिया : रेणु के गाँव में प्रेमचंद की रिहाइश', *नया ज्ञानोदय.*

'रिस्ट्रक्टरिंग द इंडियन कौंसिल ऑफ़ सोशल साइंस रिसर्च : अ रिपोर्ट ऑफ़ द फ़ोर्थ रिव्यू कमेटी' (मार्च, 2000), आईसीएसएसआर, दिल्ली : 20–22.

रॉय भास्कर (1998), *पॉसिबिलिटी ऑफ़ नेचरिज़म : अ फ़िलॉसॉफ़िकल क्रिटीक ऑफ़ द कंटेम्परेरी ह्यूमन साइंसेज़,* रौटलेज, लंदन.

— (2008), *रियलिस्ट फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ साइंस,* टेलर एण्ड फ्रांसिस, न्यूयार्क.

समीर अमीन (2012), *युरोसेंट्रिज़म : मॉडर्निटी, रिलीजन एण्ड डेमॉक्रैसी : अ क्रिटीक ऑफ़ युरोसेंट्रिज़म एण्ड कल्चरिज़म,* आकार, दिल्ली.

सारा जोसेफ़ (1991), 'इंडीजीनियस सोशल साइंस प्रोजेक्ट : पॉलिटिकल इम्प्लीकेशंस', *इकनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 26, अंक 15.

स्टेसी सिंक्लेयर, कर्टिस डी. हार्डिन और ब्राइन एस. लोरी (2006), 'सेल्फ़-स्टीरियोटाइपिंग इन द कांटेक्स्ट ऑफ़ मल्टीपिल सोशल आइडेंटिटीज़', *जर्नल ऑफ़ पर्सनैलिटी एण्ड सोशल साइकोलॅजी* (अमेरिकन साइकोलॅजीकल एसोसिएशन), 90 (4).

सुंदर सरुक्काई (2006), 'दलित एक्सपीरिएंस एण्ड द थियरी', *इकनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 42, अंक 40.

हजारी प्रसाद द्विवेदी (2005), *अनामदास का पोथा,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली : 209.